आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ प्रवृत्तियों की विशेषताएँ, आदिकालीन साहित्य का महत्त्व

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में आदिकाल की समय सीमा दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक मानी जाती है। यह साहित्यिक परम्पराओं के निर्माण का काल है। इस काल में संस्कृत, प्राकृत और अपश्रंश में तो रचनाएँ हो ही रही थीं, साथ ही अपभ्रंश से धीरे-धीरे मुक्त होती हुई हिन्दी भी अपना रूप ग्रहण कर रहीं थी। अपभ्रंश साहित्य की परम्परा परवर्ती हिन्दी साहित्य में जीवित मिलती है। अनेक स्वतन्त्र परम्पराओं का उदय भी उन्हीं दिनों हुआ। आदिकालीन हिन्दी साहित्य की उपलब्ध सामग्री के दो रूप हैं - एक वर्ग में वे रचनाएँ हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं और दूसरे वर्ग में वे रचनाएँ हैं जिन्हें अपभरंश के प्रभाव से मुक्त हिन्दी की रचनाएँ कहा जा सकता है। अपश्रंश प्रभावित रचनाओं में सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य आदि प्रमुख हैं और अपश्रंश के प्रभाव से मुक्त हिन्दी की रत्रनाओं में बीसलदेव रासो, परमाल रानो, हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रामो, खुसरो की पहेलियाँ आदि प्रमुख हैं।

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को 'आदिकाल' 'कहने से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर आगे का साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से हम इस काल के साहित्य में हिन्दी के आदि रूप का बोध प्राप्त कर सकते हैं, तो भाव की दृष्टि से इसमें भक्तिकाल मे आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तिगों के आदिम वीज खोज सकते हैं। जहाँ तक रचना शैलियों का प्रश्न है, उनके भी वे सभी रूप जो परबर्ती काव्य में प्रयुक्त हुए, अपने आदि रूप में मिल जाते हैं। इस काल की आध्यात्मिक, शृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रू बाद के साहित्य में मिलता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'आदिकाल" को अपभ्रंश काव्य और देशभाषा काव्य में विभाजित करके देशभाषा काव्य को 'वीरगाथा काल' नाम दिया। वे वीरगाथा को

आदिकाल की प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति मानते हैं. जो उचित नहीं है। यद्यपि शुक्ल जी ने आदिकाल की अन्य प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत किया है - "आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच (संवत 1050 से 1375 तक) डेह सौ वर्षों के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है- धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 3)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - " दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोकभाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखाई देता है। दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ्ने लगा था, परन्तु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकछत्र राज्य था। चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है।.. इसी गमय से हिन्दी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है।" (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 37)

हिन्दी का आदिकाल अनेक दृष्टियों से सन्धिकालहै। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से यह संक्रान्ति का काल है। कथ्य की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य में एक साथ कई परम्पराओं का उद्दय दिखाई देता है। अपभ्रंश और संस्कृत की रचनाओं में इनमें मे कुछ परम्पराओं के स्रोत अवश्य हैं, किन्तु उनकी शक्ति और गम्भीरता हिन्दी की अपनी देन है।

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की परम्पराओं या प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए इसे कुछ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जैसे - सिद्ध माहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य, सन्त साहित्य, रासो साहित्य, लौकिक साहित्य गद्य रचनाएँ आदि।

1. सिद्ध साहित्य

सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत चौरासी सिद्धों की वे साहित्यिक रचनाएँ आती हैं, जो अपभ्रंश और तत्कालीन लोकभाषा के मिश्रित रूप में लिखी गई हैं। सिद्धों का मम्बन्ध बौद्धधर्म की बजयान शाखा से था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में चौरासी सिद्धों के नाम दिए हैं। सिद्धों में प्रथम सिद्ध कवि सरहपा थे। उनका व्यक्तित्व नितान्त विद्रोही धा। उन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया, वर्णाश्रम व्यवस्था पर तीव्र प्रहार किया । परम्पराओं और व्यवस्थाओं के खण्डन का जो रूप कबीर में दिगखाई देता है, वह सरहपा में विद्यमान है।

सरहपा की हिन्दी की रचनाओं में दोहाकोश प्रसिद्ध है। सरहपा ने दोहा और पदों की शैली अपनाई। यह शैली उनके बाद के हिन्दी कवियों ने परम्परा के रूप में अपनाई। सिद्ध साहित्य की भाषा अपभ्रंश और हिन्दी की सन्धि बेला की भाषा है। भाषा और आध्यात्मिक चेतना की दृष्टि से इस साहित्य ने हिन्दी के निर्गुण सन्तों को काफी प्रभावित किया है। सरहपा के अलावा लुहिपा, कण्हपा, मीनपा आदि अन्य सिद्ध कवि हैं।

सिद्ध साहित्य में एक और प्रवृत्ति मिलती है ,जो भक्तिकाल में आक्र पूर्ण विकसित हुई। वह प्रवृत्ति है - भक्ति और कविता का सम्बन्ध। सरहपा सहज जीवन पर वहुत अधिक बल देते थे। उन्हें सहजयान का प्रवर्तक कहा जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सिद्ध कवियों ने हिन्दी साहित्य की कबिता में जो प्रवृत्तियाँ आरम्भ कीं, उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा।

2. जैन साहित्य

हिन्दी में साहित्य रचना आरम्भ करने का श्रेय जैन कवियों को है। जैन मतावलम्बी रचनाएँ दो प्रकार की हैं - (1) जिनमें नाथों-सिद्धों की तरह अन्तस्साधना, उपदेश, नीति, सदाचार पर बल देते हैं और कर्मकाण्ड का खण्डन है। ये मुक्तक हैं और प्रायः दोहों में रचित हैं। (2) जिनमें पौराणिक, जैन साधकों की प्रेरक जीवन कथा या लोक प्रचलित कथाओं को आधार बनाकर जैन मत का प्रचार किया गया है। जैन पौराणिक काव्य और चरित-काव्य इसी श्रेणी के काव्य हैं।

जैन कवियों ने अपनी अनुभूतियों एवं शिक्षाओं को लोकमानस तक पहुँचाने के लिए लोकभाषा का आश्रय ग्रहण किया। विभिन्न पर्वों एवं उतावों के अवसर पर रास और फाग गाए जाने की परम्पराओं को ग्रहण कर जैन कवियों ने इन्हें साहित्यिक रूप प्रदान किया।

दरअरल रासक या रासो काव्य की परम्परा का प्रादर्भाव जैन कवियों द्वारा हुआ। इन कवियों ने अनेक रासक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उपदेश रसायन (प्रबन्ध काव्य) बुद्धि रास, जीवदया रास, चन्दनबाला रास, रेवन्तगिरिरासु, सप्तक्षेत्रि रासु, कच्छलि रासु आदि ऐसे ही रासो ग्रन्थ हैं। उपदेश रसायन के रचनाकार जिनदत्त सूरि हैं। इस ग्रन्थ की रचना अपभ्रंश भाषा में हुई है। जैन कवियों द्वारा लिखे गए रासो ग्रंथों की संख्या बहुत अधिक है। इन रासो ग्रन्थों में काव्यतत्त्व का अभाव है पर काव्य प्रवृत्तियों के विकास में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जैन कवियों ने शान्त रस की पृष्ठभूमि में रसराज शुंगार के विभिन्न अंगों के अतिरिक्त करुण, वीर तथा अद्भुत आदि रसों की योजना विभिन्न प्रसंगों में की है। व्यावहारिक जीवन में विरक्त होते हुए भी जैन कवियों ने अपने काव्यों में प्राकृतिक दृश्यों, विभिन्न ऋतुओं, पर्वो, उत्सवों आदि का चित्रण किया है।

3. नाथ साहित्य

राहुल रांकृत्यायन ने नाथ-पन्थ को सिद्धों की परम्परा का ही विकमित रूप माना है। डॉ. रामकुमार बर्मा का मत है कि नाथपन्थ से ही भक्तिकालीन सन्तमत का विकास हुआ था। (नाथपन्थ के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ माने गए हैं।) गोरखनाथ ने हयोग का उपदेश दिया था। उन्होंने ब्रह्मचर्य, शारीरिक-मानसिक शुचिता, बाक्संयम और मद्य-

मॉस के त्याग का आग्रह किया। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड और एवं वर्णाश्रम व्यवस्था पर उन्होंने तीव्र प्रहार क्रिया।

गोरखनाथ ने सन्त साहित्य के लिए एक पृष्ठभूमि क्ा निर्माण किया है। साखी, सबद जैसे अनेकर काव्यरूप यहीं से प्रारम्भ होते हैं। काजी व पण्डित दोनों के बाह्याइम्बर को फटकारने का कार्य यहीं से प्रारम्भ होता है। पिण्ड (शरीर) के भीतर ब्रह्माण्ड को देखने की बात यहीं से शुरू होती है। कबीर आदि संत कवियों में आक्रामक भाषा की जो दीप्ति दिखाई देती है, उमकी लौ गोरखनाथ में मिलती है। गोरखनाथ का निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है -

हिन्दू ध्यावे देहुरा, मुसलमान मसीत।

जोगी ध्यावै परमपद, जहाँ देहुरा न मसीत।।

नाथपन्थ का जिक्र करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि - "इस पन्ध का प्रचार राजपुताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अत: जब मत के प्रचार के लिए इसा पन्थ में भाषा के भी ग्रन्थ लिखे गए, तब उधर की ही प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया। उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी, जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आरापारा की खड़ीबोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बनियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथपन्थ के इन जोगियों ने परम्परागत साहित्य की भाषा या काव्य भाषा रो, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी भाषा' का सहारा लिया जिसका डाँचा कुछ खड़ीबोली लिए राजस्थानी था। देशभाषा की इन पुम्तकों में पूजा, तीर्थाटन आदि के साथ हज, नमाज आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार की एक पुस्तक का नाम है - 'काफिरबोध'" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 13)

4. सन्त काव्य

आदिकाल में सन्तकाव्य के रूप में हमें चक्रधर, ज्ञानेश्वर तथा नामदेव के हिन्दी पद मिलते हैं। इन सन्त कवियों ने सिद्धों और नाथपन्थियों द्वारा विकसित पद-शैली अपनाई। मन्त कवियों में परम्परागत धार्मिक विचारों या मत विशेष के प्रचार की अपेक्षा आत्मानुभूति के प्रकाशन की प्रवृत्ति है। जैन कवियों ने जहाँ प्रबन्धात्मक् शैली को अधिक महत्त्व दिया, वहाँ सन्त कवियों ने मुक्तक गीत-शैली को। रान्तों ने अपने पदों में राग-रागनियों का भी समावेश किया।

इस प्रकार आदिकाल का धर्म से सम्बन्धित काव्य तत्कालीन लोकजीवन एवं लोकमानहित्य की परम्पराओं से प्रेरित, प्रभावित एवं सम्बन्धित दिखाई पड़ता है।

5. रासो काव्य

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रासो काव्य की परम्परा प्राप्त होती है। हिन्दी में रासो काव्यों की लम्बी शृंखला है, जिनमें पृथ्वीराज रास्रो, बीसलदेव रासो , हम्मीर रासरो, परमाल रामो, विजयपाल रासो तथा खुमाण रासो आदि प्रमुख हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रासो काव्यों के आधार पर इस काल को वीरगाथा काल कहा है। उन्होंने लिखा है - "राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनुठी उक्तियों के साध किया करते थे और अपनी बीरोल्लाग भरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे।" (हिन्दी साहित्य का इतिहारा, पू. 17) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "सातवीं-आठवीं शताब्दी से इस देश में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रधा खूब चली... परन्तु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें...कल्पना विलास का अधिक मान था, तथ्य निरूपण का कम।..ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथात्मक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है।" (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 49)

द्विवेदी जी ने अन्यत्र लिखा है - "परन्तु यह सत्य है कि इस काल की रचनाओं में बीरतत्व का एक नया स्वर सुनाई देता है। इस काल में वीर रस को बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है।" (हिन्दी साहित्य : उद्भव और बिकार, पृ. 56)

रामो काव्य की विषय वस्तु का मुल सम्बन्ध राजाओं के चरित तथा प्रशंसा से है, तथा इनमें वीर रस की प्रधानता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है - "ये वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं प्रबन्धकाव्य के साहित्यिक रूप में

और बीर गीतों (बैलाड्स) के रूप में। साहित्यिक प्रबन्ध के रूप में जो प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है. वह है पृथ्वीराज रासो । वीरगीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक बीसलदेव रासो मिलती है। यद्यपि उसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है, जो रचना कई सौ व्षों से लोगों में बराबर गाई जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती।"(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 23)

शुक्ल जी के अनुसार चन्दवरदाई हिन्दी के प्रथम महाकवि हैं और इनका पृरथ्वीराज रानो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। द्विवेदी जी के अनुसार रासो में अनेक कथानक रूढ़ियों और काव्य रूढ़ियों का प्रबोग किया गया है। उसमें अनेक छन्दों का प्रयोग मिलता है। पृथ्वीराज रासो रासो काव्य परम्परा का काव्य तो है ही, इसमें चरित-काव्य, कथा-काव्य, आख्यायिका आदि के भी लक्षण मिलते हैं। इस काव्य में दो रस प्रमुख हैं - शृंगार और वीर। इस काव्य के नायक प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट दिल्ली नरेश पृथ्वीराज हैं ।

कवि ने एक ओर तो युद्धों के वर्णन के माध्यम से वीरता और पराक्रम की अद्‌भुत सृष्टि की है, दूसरी ओर रूप सौन्दर्य और प्रेम के भी सरस चित्र उतारे हैं। दोनों रसों के केन्द्र में नारी है। उसे पाने के लिए युद्ध होते हैं और पा लेने पर जीवन का विलास पक्ष अपनी पूरी

रमणीयता के साथ उभरता है। वीर और श्रृंगार रसों के पोषण के लिए पृथ्वीराज रासरो में आवश्यकतानुसार अन्य रगों की भी योजना की गई है। कबि ने नगरों, बनों, सरोवरों, किलों आदि का भी बर्णन तन्मयता से किया है। कुल मिलाकर इसमें वीर रस की प्रमुखता है।

दूरारी तरफ बीसलदेव रासो श्रृंगार प्रधान काव्य है। यह एक प्रेम काव्य है, जिसमें संयोग और वियोग दोनों मनोदशाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। यह एक 'सन्देश काव्य' है। मेघदरत और सन्देशरासक की सन्देश परम्परा इसमें मिलती है। बीसलदेव रासो की एक विशेषता यह भी है कि यह एक गेय काव्य है। सामन्ती जीवन के प्रति गहरी अरुचि का सजीव चित्रण इस काव्य में मिलता है। इस काव्य में मध्यकाल की एक ऐसी नारी है, जो अपने पति के अहंकार को तोड़कर उसकी प्रतिस्पर्धा में आत्मगौरव की अनुभूति करती हुई खड़ी होना चाहती है, लेकिन पुरुष का हठ और उराका अहंकार नारी को झुकने के लिए बाध्य कर देता है।

बीसलदेव रासो की रचना नरपति नाल्ह ने की है। इसमें साम्भर नरेश बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) तथा मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती के जीवन की एक कालखण्ड की कथा कही गई है। राजमती का विवाह बीसलदेव के साथ हुआ था। बिवाह के कुछ ही दिनों बाद रानी की बात पर रूठकर बीसलदेव उड़ीसा चले गए और वहाँ एक वर्ष रहे। राजमरती के बिरह वर्णन के इस सुन्दर अवसर का कवि ने भरपूर उपयोग किया है। रानी राजमती ने राजा के पास सन्देश भेजा। वे उड़ीसा से लौटे। राजा भोज अपनी पुत्री को घर ले आए। बीसलदेव वहाँ जाकर राजमती को चित्तौड़ ले आए। विरहजन्य कष्ट सहने के बाद भी न तो राजमती का स्वभाव बदला, न ही उसके जुबान की तेजी कम हुई है।

बीसलदेव रासो में हिन्दी काव्य में प्रयुक्त होने वाला बारहमासा वर्णन सबसे पहले है। बीसलदेव रासो की श्रृंगारिक काव्यधारा हिन्दी की सूफी काव्यधारा, कृष्णभक्ति काव्य तथा रीतिकालीन काव्य को बहुत अधिक प्रभावित करती है। इसी समय अर्थात आदिकाल में भाषा के दो रूप 'डिंगल' और 'पिंगल' मिलते हैं। बीसलदेव रासो और पृथ्वीराज रासो के अलावा प्रमालरासो, विजयपाल रासो, हम्मीर रासो और खुमाण रासो आदि अन्य प्रसिद्ध रासो काव्य हैं।

6. लौकिक साहित्य

आदिकाल में उपर्युक्त प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त स्वच्छन्द रूप में लौकिक विषयों पर ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति मिलती है। होला-मारू रा दुहा ग्यारहवीं शताब्दी में रचित एक लोकभाषा काव्य है। इसमें ढोला नामक राजकुमार और मारवणी नामक राजकुमारी की प्रेमकथा का वर्णन है। यह लोकप्रसिद्ध प्रेमगाथा आदिकालीन श्रृंगार काव्य परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस काव्य में नारी हृदय की अत्यन्त मार्मिक व्यंजना मिलती है।

डोला-मारू रा दुहा मुल रूप से दोहों में लिखा गया है। ये दोहे श्रृंगार रस की जो परम्परा आरम्भ करते हैं, बह आगे जाकर बिहारी के काव्य में प्रतिफलित हुई।

बसन्त-बिलास में चौरासी दोहों में बसन्त और स्त्रियों पर उसके विलासपूर्ण प्रभाव का मनोहारी चित्रण किया गया है। डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हिन्दी साहिन्य का इतिहास में लिखा है कि - "आदिकाल के विद्वानों ने अब तक वीरगाथाओं और धार्मिक उपदेशों का ही युग माना था। बसन्त-विलास के सरस वर्णनों को पढ़कर सूर की श्रृंगार भावन या उसके पश्चात् रीतिकालीन कवियों की श्रृंगारिकता, साहित्य में अचानक आ जाने वाली प्रवृत्ति नहीं रह जाती और न उसके लिए संस्कृत साहित्य में परम्परा की खोज करना ही आवश्यक प्रतीत होता है... स्त्री-पुरुष-प्रकृति तीनों में अजत्र बहती मदोन्मत्तता का इस काव्य में जैसा त्रित्रण मिलता है, वैसा रीतिकालीन हिन्दी कवि भी नहीं कर सबे।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.77)

7. गद्य साहित्य

आदिकाल में काव्य रचना के साथ-साथ गद्य रचना की दिशा में भी कुछ प्रयास लक्षित होते हैं। राउलवेल नामक कृति में कवि ने 'राउल नामक नायिका के सौन्दर्य का वर्णन आरम्भ में पद्य में किया है, फिर गचद्य का प्रयोग किया है। राउलवेल से ही हिन्दी में नख-शिख वर्णन की श्रृंगार परंपरा आरम्भ हुई। इसकी भाषा में हिन्दी की सात बोलियों के शब्द मिलते हैं, जिनमें राजस्थानी प्रधान है। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' से आदिकाल के काव्य रूपों के सम्बन्ध में थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त होती है। इससे गद्य और पद्य दोनों शैलियों की हिन्दी में तत्सम शब्दाबली के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का पता चलता है। वर्णरलाकर मैथिली हिन्दी का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है, जो गद्य में है। हिन्दी गद्य के विकास में राउलवेल के पश्चात इसका योगदान प्रमुख है।

चन्दायन के रूप में मुफी काव्य परम्परा का आरम्भिक रूप : मुल्ला दाउद की रचना चन्दायन' से सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की शुरुआत हुई। इसमें दोहा और चौपाई को मिलाकर लोरिक की कथा कही गई है। सूफी कवियों के काव्य के लिए यह रचना प्रेरक सिद्ध हुई है।

8. अमीर खुसरो

जन-जीवन के साथ घुल-मिलकर काव्य रचना करने वाले कवियों में खुसरो का स्थान सर्वाश्रिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने जनता के मनोरंजन के लिए पहेलियाँ और मुकरियाँ लिख्री थीं। आदिकाल में खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने वाले वे पहले कवि हैं।

अमीर खुसरो एक संगीतज्ञ, इतिहासकार, कवबि आदि बहुत कुछ थे। वे कई भाषाओं के जानकार थे । उन्होंने ऐसी पंक्तियाँ रची हैं, जिनमें फ़ारसी और हिन्दी को एक ही ध्वनि

प्रवाह में गुम्फित कर दिया गया है। इनकी अधिकांश रचनाएँ फ़ारसी में है। अमीर खुसरो को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने भारतीय शैली में फ़ारसी माहित्य लिखा (पर्सियन लिटरेचर इन इण्डियन स्टाइल)। अमीर खुसरो ने अपनी रचनाओं में राग-रागिनियों का भी उपयोग किया।

अमीर खुसरो के भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने बोलचाल की भाषा में रचना की। उनका प्रसिद्ध दोहा नीचे दिया जा रहा है, जिसकी चर्चा बार-बार की जाती है और जिससे लगता है कि इनकी भाषा बिहारी से अधिक बोल-चाल की भाषा है -

गोरी सोवे सेज़ पर, मुख पर डारे केस।

चल खुसरो घर आपने, रैनि भई चहुँ देस।

अमीर खुसरो की कविता के विभिन्न रूप मिलते हैं। उनकी पहेलियाँ, मुकरियों इस कदर जनता से जुड़ी हुई हैं कि उनमें से कुछ अभी तक लोगों की जबान पर हैं। मख़ुसरो के पहेली की एक विशेषता यह है कि उसमें अन्त में समाधान नहीं दिया गया है। पहेलियाँ संवाद की भाषा में हैं, इसलिए अधिक लोकप्रिय हुईं। अमीर खुसरो की कविता का रूप मुकरी भी है। इसमें बाग्विदग्धता, हास्य-व्यंग्य का मिला रूप दिखाई देता है। खुमरो ने छोटी-छोटी सवालनुमा कविताएँ लिखी हैं। उन्होंने राग-रागिनियों का उल्लेख करते हुए कुछ गीत भी लिखे। उन्होंने कुद्ध दोहे भी लिखे। उनके दोहों में दार्शनिक गहराई होने के बाद भी पारदर्शिता ग़ज़ल को आगे बढ़ाने का श्रेय भी अमीर खुसरो को है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अमीर खुसरो रचनाओं में एक साथ अनेक परम्पराएँ मिलती हैं।

9. विद्यापति

विध्यापति को आचार्य शुक्त ने फुटकल कवियों में रख दिया है, क्रिन्तु आदिक्राल के ये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि हैं। विद्यापति ने तीन भाषाओं में साहित्य लिखा - संस्कृत, अपभ्रंश के एक रूप अवहट्ट और लोकभाषा मैथिली। विद्यापति को अपश्चंश साहित्य का अन्तिम महत्त्वपूर्ण कवि और हिन्दी साहित्य का प्रथम महत्त्वपूर्ण कवि कहा जा सकता है।

विद्यापति की रचनाओं में मुख्य रूप से दो परम्पराएँ मिलती हैं -

1. चरित काव्य की परम्परा

2. गीतों की परम्परा

उपर्युक्त दोनों से एक तीसरी परम्परा का संवेत मिलता है, वह है, काव्य एवं संगीत की एकता की परम्परा। इसकी शुरुआत का श्रेय विद्यापति को ही है। विद्यापति की तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं - कीर्तिलता, करीर्तिपताका एवं पदावली।

कीर्तिलता और कीर्तिपताका चरितकाव्य की परम्परा में आती हैं। ये दोनों रचनाएँ आगे चलकर चरित काव्य का आधार बनती हैं। कीर्तिलता के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "सब मिलाकर कीर्तिलता अपने समय का बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित करती हैं। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवन्त रूप है।" (हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास, पृ. 52)

विद्यापति की कीर्तिलता में गद्य का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा अवहट्ट है। कीर्तिपताका में प्रेमक्रथा वर्णित है। विद्यापति की ख्याति का आधार उनकी पदावली है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ विद्यापति की पदावली से माना जाता है। राश्राकृष्ण की प्रेम लीलाओं का वर्णन करने के लिए विद्यापति ने यदावलीकी रचना की। इनकी पदावली में भक्ति और श्रृंगार का समन्वय मिलता है। वस्तुतः जयदेव का गीत गोविन्द, विद्यापति की पदावली और सुरदास का सूरसागर लगभग एक तरह की रचनाएँ हैं, जिनमें भक्ति का आधार श्रृंगार हैं।

विद्यापति की पदावली से प्रकार की परम्पराएँ शुरू होती हैं, जिनमें कुछ प्रमुख हैं - पद रचना की परम्परा, कविता और संगीत की एकता की परम्परा, लोककाव्य की लिखित परंपरा। विद्यापति की पदावली से उपर्युक्त बातें स्पष्ट होती हैं।

आदिकाल में हिन्दी भाषा साहित्यिक अपभरंश के साथ-साथ चलती हुई क्रमशः जनभाषा के रूप में साहित्य रचना का माध्यम बन रही थी। आदिकालीन हिन्दी माहित्य में बीर रस की रचनाओं में डिंगल शैली का प्रयोग होता था तथा कोमल भावों की अभिव्यंजना पिंगल शैली में की जाती थी। पिंगल अर्थात क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित ब्रज साहित्यिक भाषा बनती जा रही थी, आगे चलकर भक्तिकाल में ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा बन गई।

निष्कर्ष

हिन्दी साहित्य का आदिकाल विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास का काल है। इस काल में अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियाँ निर्मित हो रहीं थी और साहिित्यिक भाषा भी एक नया रूप लेने लगी थी। इस काल में एक तरफ तो हमें सिद्धों, नाथों और जैन कवियों की रचनाएँ मिलती हैं तो दूसरी ओर बीरता और श्रृंगार से परिपूर्ण रासो काव्य। आदिकाल को भाषा का सन्धिकाल कहा जाता है। इस काल में अपभ्रंश में रचनाएँ हो रही थीं तो अपभ्रंश का परिवर्तित स्वरूप भी स्पष्ट दिखाई दे रहा था। मुक्तकों की रचना के साथ-साथ प्रबन्ध काव्यों का भी प्रणयन हो रहा था। यह काल क्रमशः लोकोन्मुख होती हुई काव्य संबेदना और भाषा का काव्य है। इसी काल में हमें गद्य का स्वरूप निर्मित होते हुए भी दिखाई देता है।

हिन्दी

महत्वपूर्ण लिंक

- आदिकालीन साहित्य की परिस्थितियाँ- राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ, सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ
- प्रमुख हिन्दी गद्य-विधाओं की परिभाषाएँ
- नाटक- परिभाषा, प्रथम नाटक, नाटक के तत्त्व, प्रमुख नाटककारों के नाम, प्रसिद्ध नाटकों के नाम
- आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ- प्रवृत्तियों की विशेषताएँ, आदिकालीन साहित्य का महत्त्व
- हिंदी के प्रमुख इतिहासकारों द्वारा किए गए काल विभाजन
- कृष्णभक्ति काव्यधारा के प्रमुख कवि (Krishnbhakti Kavay Dhara Ke Pramukh Kavi)
- कृष्ण काव्य की प्रवृत्तियाँ / कृष्ण भक्ति काव्यधारा की प्रमुख विशेषतायें (Krishan Kavay Ki Pravritiitiyan / Krishan Kavay Ki Visheshatayen)
- राम काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ | रामकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ
- भक्तिकाल की प्रमुख विशेषताएँ | स्वर्ण युग की विशेषताएँ
- भाषा की प्रकृति (विशेषताएँ) - यहाँ पर 18 प्रकृतियों का वर्णन किया गया है
- भाषा क्या है तथा भाषा की परिभाषा (What is language and definition of language)
- भाषा उत्पत्ति के सिद्धांत - 10 प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या के साथ